

उपनिषदों में अद्वैत दर्शन: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

वीना रानी, सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, हिसार, हरियाणा

सारांश (Abstract)

यह शोध-पत्र उपनिषद्-साहित्य में निहित अद्वैत-चिन्तन का विश्लेषणात्मक साहित्यिक अध्ययन है। शोध का केन्द्रीय प्रश्न यह है कि उपनिषदों में अद्वैत का स्वरूप कितना स्पष्ट, सुसंगत और मूलपाठ-सम्मत है, और परवर्ती भाष्य-परम्परा ने उसे किस सीमा तक विकसित या पुनर्व्याख्यायित किया। अध्ययन में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रमुख मन्त्रों का पाठ-विश्लेषण किया गया है। साथ ही गौड़पाद और शंकराचार्य की भाष्य-दृष्टि, रामानुज तथा मध्व की असहमतियाँ, बौद्ध दर्शन से सम्बन्ध, नव-वेदान्त की व्याख्या, मार्क्सवादी और आर्यसमाजी आलोचना और पाश्चात्य दर्शन से तुलना भी परखी गई है। निष्कर्ष यह है कि उपनिषदों में अद्वैत के बीज, प्रतिपादन और उसकी चरम अभिव्यक्ति (विशेषतः बृहदारण्यक, छान्दोग्य और माण्डूक्य में) स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। किन्तु उपनिषद् एकरेखीय व्यवस्थित दर्शन नहीं, बहुस्तरीय चिन्तन-धारा हैं। इसी कारण मायावाद जैसे प्रश्नों पर मतभेद की गुंजाइश बनी रहती है। अद्वैत को उपनिषदों की "एकमात्र" व्याख्या मानने के बजाय उसे सर्वाधिक सुसंगत और प्रभावशाली व्याख्याओं में से एक मानना अधिक तर्कसंगत है।

कूटशब्द (Keywords): उपनिषद्, अद्वैत, ब्रह्म, आत्मा, माया, महावाक्य, शांकर भाष्य, मोक्ष

1. प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन-परम्परा में उपनिषदों का स्थान अद्वितीय है। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग में स्थित होने से वे "वेदान्त" कहलाते हैं, और कर्मकाण्ड-प्रधान पूर्वभाग की तुलना में ज्ञानकाण्ड के रूप में प्रतिष्ठित हैं [1]। इन ग्रन्थों में यज्ञ की बाह्य क्रियाओं से आगे बढ़कर यह पूछा गया कि जगत् का मूल क्या है, "मैं" वास्तव में कौन हूँ, और मृत्यु से परे कोई सत्य है या नहीं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार उपनिषद् मानव-मन की उस आदिम जिज्ञासा के उत्तर हैं जो बाह्य प्रकृति से भीतरी चेतना की ओर मुड़ी [2]।

उपनिषदों की संख्या और उनका वर्गीकरण विद्वानों में विवाद का विषय रहा है। परम्परा में मुक्तिकोपनिषद् की गणना के अनुसार १०८ उपनिषद् माने जाते हैं। इनमें ऋग्वेद के १०, शुक्ल यजुर्वेद के १९, कृष्ण यजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ और Atharvaveda के ३१ उपनिषद् गिने जाते हैं (कुल १०+१९+३२+१६+३१ = १०८)। पॉल डॉयसन ने अपने अध्ययन में साठ उपनिषदों का विवेचन किया [3]। किन्तु शंकराचार्य की भाष्य-परम्परा ने जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा, वे ही व्यवहार में प्रधान माने गए: ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक [4-6]। श्वेताश्वतर पर भी शांकर भाष्य मिलता है, पर उसकी प्रामाणिकता पर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार संख्यात्मक दृष्टि से १०८ की परम्परागत सूची में से लगभग दस या ग्यारह उपनिषद् (करीब ९-१०%) ही अद्वैत-भाष्य-परम्परा के केन्द्र में रहे। यह तथ्य स्वयं इस बात का संकेत है कि अद्वैत की व्याख्या का आधार सम्पूर्ण उपनिषद्-साहित्य नहीं, उसका एक चयनित प्रतिनिधि भाग है।

अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता "प्रस्थानत्रयी" कहलाते हैं, और शंकराचार्य ने तीनों पर भाष्य रचा [7]। इसलिए उपनिषदों में अद्वैत का अध्ययन दो स्तरों पर आवश्यक है। पहले स्तर पर मूलपाठ में अद्वैत के प्रत्यक्ष प्रमाण खोजे जाते हैं। दूसरे स्तर पर देखा जाता है कि भाष्यकारों की व्याख्या मूलपाठ के प्रति कितनी निष्ठावान है। यही इस शोध की विश्लेषणात्मक धुरी है।

2. शोध-समस्या, उद्देश्य और प्रश्न

2.1 शोध-समस्या

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने स्पष्ट लिखा कि उपनिषद् किसी एक ऋषि की रचना या एक ही काल की व्यवस्थित दार्शनिक कृति नहीं हैं। उनमें अनेक विचार-धाराएँ साथ-साथ चलती हैं, और परवर्ती वेदान्ती सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उन्हें पढ़ा [8]। राधाकृष्णन् ने भी उपनिषदों की मूल प्रवृत्ति को आदर्शवादी अद्वैत के रूप में स्वीकार करते हुए माना कि इनमें अन्तर्विरोध-सदृश कथन भी हैं [9]। रा. द. रानाडे ने उपनिषदीय दर्शन को एक "रचनात्मक सर्वेक्षण" के रूप में देखा और अनेक स्तरों पर बिखरी दृष्टियों को रहस्यानुभूति के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया [10]। इन तीन प्रतिनिधि विद्वानों से यह समस्या उभरती है: क्या उपनिषदों का मूल स्वर अद्वैत है, या अद्वैत एक परवर्ती सुव्यवस्थित व्याख्या है जो कुछ अंशों को केन्द्र में रखकर शेष को गौण बना देती है?

2.2 शोध-उद्देश्य

1. उपनिषदों के प्रमुख अंशों में अद्वैत-प्रतिपादक वाक्यों का साहित्यिक और दार्शनिक विश्लेषण करना।
2. ब्रह्म, आत्मा, माया, जगत् और मोक्ष की अवधारणाओं का उपनिषद्-आधारित विवेचन करना।
3. पूर्व शोध-कार्यों की समीक्षा कर उनके निष्कर्षों की तुलना करना।
4. भारतीय और पाश्चात्य विचार-धाराओं से तुलनात्मक विश्लेषण करना।
5. विभिन्न दृष्टिकोणों के आलोक में अद्वैत की प्रामाणिकता और सीमाओं का आकलन करना।

2.3 शोध-प्रश्न

- (क) क्या उपनिषदों में अद्वैत का स्पष्ट पाठगत आधार है?
- (ख) "नेह नानास्ति किंचन" जैसे कथनों और सृष्टि-वर्णन वाले अंशों के बीच सामंजस्य कैसे होता है?
- (ग) शांकर व्याख्या और अन्य वेदान्ती व्याख्याओं में मूल अन्तर क्या हैं?
- (घ) आधुनिक शोधकर्ता अद्वैत के मूल्यांकन में किन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं?

3. शोध-पद्धति

यह अध्ययन विश्लेषणात्मक साहित्यिक शोध (Analytical Literary Research) की पद्धति पर आधारित है, और इसमें किसी व्यवस्थित समीक्षा-प्रोटोकॉल (जैसे PRISMA) का प्रयोग नहीं किया गया। पद्धति के चार चरण थे:

- (i) **प्राथमिक स्रोत-चयन:** मूल उपनिषद् पाठों के लिए शांकर भाष्य के हिन्दी और अंग्रेज़ी संस्करण, तथा आलोचनात्मक पाठ और अनुवाद (ओलिवेल, ह्यूम, मैक्स मूलर आदि) आधार बनाए गए [4-6, 11-13]।
- (ii) **द्वितीयक स्रोत-चयन:** हिन्दी और संस्कृत की परम्परागत दर्शन-पुस्तकों को वरीयता दी गई, और उनके साथ अंग्रेज़ी तथा यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध प्रतिष्ठित शोध-ग्रन्थ लिए गए। सभी स्रोत २०२३ से पूर्व प्रकाशित हैं।
- (iii) **पाठ-विश्लेषण:** प्रत्येक उपनिषद् के अद्वैत-वाक्यों को संदर्भ (प्रसंग, संवादकर्ता, उपमा) सहित पढ़ा गया। फिर देखा गया कि वे किस दार्शनिक दावे का समर्थन करते हैं: अभेद, अद्वैत, मिथ्यात्व, निर्गुणत्व या मोक्षा

(iv) तुलनात्मक और दृष्टिकोणात्मक विश्लेषण: शंकर, रामानुज, मध्व, बौद्ध, नव-वेदान्ती, मार्क्सवादी और पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टियों से परिणामों की तुलना की गई।

मूल सीमा यह है कि यह पाण्डुलिपिगत या क्षेत्र-आधारित अनुसन्धान नहीं है, अतः निष्कर्ष प्रकाशित पाठों और उनकी व्याख्याओं की तर्कसंगत तुलना पर टिके हैं।

4. अद्वैत की संकल्पना और उपनिषद्-साहित्य का काल-क्रम

4.1 अद्वैत का अर्थ

"अद्वैत" का शाब्दिक अर्थ है "द्वैत का अभाव" या "दो का न होना"। एम. हिरियन्ना के अनुसार अद्वैत का सार यह है कि परम सत्ता एक है, अभेद है, और जीवात्मा उसी सत्ता से स्वरूपतः अभिन्न है [14]। इसी विचार को उन्होंने अन्यत्र भारतीय दर्शन का शिखरस्थ बिन्दु कहा जो अनुभव और तर्क दोनों को समेटता है [15]। चन्द्रधर शर्मा ने अद्वैत को निरपेक्ष अद्वैतवाद कहा, जिसमें ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है, और जगत् तथा जीव का पृथक् अस्तित्व व्यावहारिक स्तर का है [16]।

इसे तीन सूत्रों में समझा जा सकता है:

१. ब्रह्म-सत्ता: ब्रह्म सत्, चित् और अनन्त है।
२. आत्म-ब्रह्म-ऐक्य: जीवात्मा का मूल स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है।
३. जगत् की सापेक्षता: नाम-रूपात्मक जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं, ब्रह्माश्रित है।

4.2 उपनिषदों का काल-क्रम

पाठ-आलोचना की दृष्टि से उपनिषद् एक ही काल के नहीं हैं। पैट्रिक ओलिवेल के आलोचनात्मक संस्करण में यह प्रतिपादित है कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे प्राचीन गद्य-उपनिषद् बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व के हैं। कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक, प्रश्न और माण्डूक्य जैसे पद्य या अपेक्षाकृत बाद के ग्रन्थ उनके पश्चात् की रचनाएँ माने गए हैं [11]। बेलवलकर और रानाडे ने भारतीय दर्शन के इतिहास में उपनिषदों को "सृजनात्मक काल" के दार्शनिक उत्कर्ष के रूप में रखा और भारतीय दर्शन की अनेक धाराओं का उद्गम इनमें देखा [17]।

इस काल-क्रम का अद्वैत-चर्चा के लिए विशेष महत्त्व है। सबसे प्राचीन उपनिषदों में भी ब्रह्म-आत्मा-ऐक्य की स्पष्ट घोषणा है, किन्तु "माया" जैसा सुस्थिर पारिभाषिक प्रयोग अपेक्षाकृत परवर्ती श्वेताश्वतर तक ही दिखता है। इसलिए अद्वैत के दो स्तर स्पष्ट होते हैं: **अभेद-दर्शन** (प्राचीन उपनिषदों में) और **मिथ्यात्व या मायावाद की तार्किक संरचना** (परवर्ती उपनिषद्, कारिका और भाष्य-परम्परा में)।

5. प्रमुख उपनिषदों में अद्वैत: पाठ-विश्लेषण

5.1 बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहदारण्यक सबसे विशाल और दार्शनिक दृष्टि से सम्भवतः सबसे प्रौढ़ उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं, जो मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्यकाण्ड और खिलकाण्ड के रूप में व्यवस्थित हैं [5, 18]। यहाँ अद्वैत की सबसे प्रत्यक्ष घोषणाएँ मिलती हैं:

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृहदारण्यक १.४.१०)

अर्थात् आरम्भ में यह सब ब्रह्म ही था; उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ", और इसी से वह सब कुछ हुआ [5]। शांकर भाष्य के अनुसार यह वाक्य ब्रह्मज्ञान से सर्वात्मभाव की सिद्धि का प्रतिपादक है, और ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, कर्म नहीं [5]। इसी अध्याय में स्पष्ट है कि देवताओं में जो ब्रह्म को जानता है, वह वही हो जाता है। यह वैदिक यज्ञ-संस्कृति की देवता-केन्द्रित दृष्टि से हटकर आत्मज्ञान-केन्द्रित दृष्टि की ओर मोड़ है।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद (२.४ और ४.५) में आत्मा को सर्वाधिक प्रिय बताया गया है और कहा गया है कि आत्मा ही देखने, सुनने, विचारने और जानने योग्य है (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः)। यहाँ श्रवण, मनन और निदिध्यासन की वह त्रिविध साधना उपस्थित है जिसे परवर्ती अद्वैत परम्परा ने अपनी साधना-पद्धति का आधार बनाया [5, 18]। इसी संवाद में द्वैत-बोध और अद्वैत-बोध का भेद स्पष्ट है:

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति... यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्... विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"
(बृहदारण्यक २.४.१४)

अर्थात् जहाँ द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ एक दूसरे को देखता है। जब इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया तो कौन किसे किससे देखे? और जो सबको जानने वाला है, उसे किसके द्वारा जाना जाए? "द्वैतमिव" शब्द में "इव" (जैसे) का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। शंकर इसे द्वैत की परमार्थ-सत्यता के निषेध का सूचक मानते हैं [5]।

ब्रह्म के निर्गुण-निर्विशेष स्वरूप के लिए बृहदारण्यक ने "नेति नेति" (२.३.६, ३.९.२६) की निषेध-पद्धति दी। यहाँ ब्रह्म को विधायक शब्दों से नहीं, निषेध से इंगित किया जाता है, जिसे परवर्ती अद्वैती "अपवाद" पद्धति कहते हैं [5, 18]। बृहदारण्यक ४.४.१९ का यह मन्त्र अद्वैत का अति-प्रसिद्ध प्रमाण है:

"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥"

अर्थात् इसे मन (शुद्ध और संस्कारित मन) से ही देखना चाहिए। यहाँ नानात्व कुछ भी नहीं है। जो यहाँ नानात्व-सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है [5]।

5.2 छान्दोग्य उपनिषद्

छान्दोग्य का छठा अध्याय (उद्दालक-श्वेतकेतु संवाद) अद्वैत के तार्किक निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उद्दालक आरुणि कहते हैं:

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छान्दोग्य ६.२.१)

अर्थात् हे सौम्य! आरम्भ में यह सब एकमात्र, अद्वितीय सत् ही था [6]। यहाँ "एकम्", "एव" और "अद्वितीयम्", तीनों पद एक साथ हैं, जो अद्वैत का सर्वाधिक स्पष्ट शाब्दिक प्रमाण है। शंकर ने "अद्वैत" शब्द का इसी प्रकार के स्थलों से ग्रहण किया, और "अद्वितीय" पद को अन्य किसी सत्ता के निषेध के रूप में लिया [6, 7]।

इसी अध्याय का दार्शनिक तर्क कारण-कार्य-अनन्यत्व पर टिका है:

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छान्दोग्य ६.१.४)

अर्थात् जैसे एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से मिट्टी की सब वस्तुएँ जान ली जाती हैं, विकार केवल वाणी का आश्रय-भर, नाम-मात्र है, सत्य तो केवल मिट्टी है [6]। इस दृष्टान्त से कार्य की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध और कारण की एकमात्र सत्ता का प्रतिपादन होता है। बाद में ब्रह्मसूत्र (२.१.१४) का "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" सूत्र इसी अंश का सैद्धान्तिक संकलन है [7]।

छान्दोग्य के इसी अध्याय में "तत्त्वमसि" का उपदेश नौ बार अलग-अलग दृष्टान्तों के साथ दोहराया गया है (६.८.७ से ६.१६.३ तक), जैसे नदियों का समुद्र में लय, वृक्ष के रस का एकत्व, नमक का जल में विलयः

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छान्दोग्य ६.८.७)

यह वह सूक्ष्म तत्त्व है जिसका आत्मारूप यह सब है। वही सत्य है, वही आत्मा है, और हे श्वेतकेतु! तू वही है [6]। इसी उपनिषद् के तीसरे अध्याय में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (३.१४.१) की उक्ति जगत् को ब्रह्म-रूप कहती है, तथा सातवें अध्याय की "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (७.२४.१) भूमा (अनन्त) को द्वैत-रहित स्थिति के रूप में परिभाषित करती है [6]।

5.3 ईश उपनिषद्

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का चालीसवाँ अध्याय होने के कारण ईश उपनिषद् मन्त्र-रूप है। इसमें केवल अठारह मन्त्र हैं, किन्तु अद्वैत की घनी अभिव्यक्ति है [4]। उसका आरम्भिक वाक्य है:

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (ईश १)

अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी गतिशील है, वह सब ईश्वर से आच्छादित करने योग्य है [4]। छठे और सातवें मन्त्र सर्वात्मदृष्टि का बोध कराते हैं:

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (ईश ६-७)

जो सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, वह घृणा नहीं करता। जिस अवस्था में विज्ञानी के लिए सब भूत आत्मा ही हो गए, वहाँ एकत्व देखने वाले को कौन-सा मोह और शोक? [4] यहाँ "एकत्वम्" शब्द नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर अद्वैत के व्यावहारिक फल को दिखाता है। ईश उपनिषद् की विशेषता यह है कि यह ज्ञान और कर्म के समन्वय पर भी बल देता है, अतः इसकी अद्वैत-व्याख्या पर शांकर (ज्ञान-प्रधान) और अन्य दृष्टियों के बीच विवाद रहा है। श्री अरविन्द ने इस उपनिषद् में जगत् के प्रति स्वीकार-भाव और दिव्य जीवन की सम्भावना पर विशेष बल दिया, जो शांकर व्याख्या के जगत्-मिथ्यात्व से भिन्न है [4, 35]।

5.4 केन उपनिषद्

केन उपनिषद् का प्रश्न है, "किसकी इच्छा से मन, प्राण और वाणी प्रेरित होते हैं?" उत्तर में ब्रह्म को इन्द्रिय-मन-वाणी का भी प्रेरक बताया गया है:

"यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥" (केन १.४)

जो वाणी से अभिव्यक्त नहीं होता, जिससे वाणी अभिव्यक्त होती है, उसी को तू ब्रह्म जाना। यह नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं [4]। यह कथन निर्गुण ब्रह्म की ज्ञेयता के विचित्र स्वरूप को स्पष्ट करता है: ब्रह्म ज्ञाता का भी ज्ञाता है, इसलिए वह विषय नहीं बन सकता। यही अद्वैत की "अज्ञेय-रूप से ज्ञात" वाली सूक्ष्मता है।

5.5 कठ उपनिषद्

कठ उपनिषद् नचिकेता और यम के संवाद के रूप में आत्मा की अमरता का दार्शनिक विवेचन है। इसमें यह प्रसिद्ध मन्त्र है:

*"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"* (कठ १.२.१८)

यह ज्ञानी आत्मा न जन्मता है, न मरता है। यह न किसी से उत्पन्न हुआ, न इससे कोई उत्पन्न हुआ। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, और शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता [4]। द्वैत-दर्शन के निषेध का प्रसिद्ध मन्त्र भी यहीं है:

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥" (कठ २.१.१०)

जो यहाँ है वही वहाँ है, जो वहाँ है वही यहाँ है। जो यहाँ नानात्व-सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है [4]। बृहदारण्यक के "नानेव" के साथ कठ के इस मन्त्र का पाठान्तर-सादृश्य ध्यान देने योग्य है। दोनों में "नाना" के प्रति "इव" (जैसे) का प्रयोग द्वैत-बोध को अविद्याजन्य मानने की प्रवृत्ति दर्शाता है। इसी उपनिषद् में एक ही अग्नि के नाना रूपों में प्रतिबिम्बित होने का दृष्टान्त (२.२.९) आत्मा की एकता और उसकी उपाधि-भेद से भिन्न प्रतीति को समझाता है [4]।

5.6 मुण्डक उपनिषद्

मुण्डक का आरम्भिक प्रश्न अद्वैत-दृष्टि का निर्णायक बिन्दु है:

"कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥" (मुण्डक १.१.३)

अर्थात् हे भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है? [4] यह प्रश्न ही एक अद्वैत-दर्शन की भूमिका रचता है, क्योंकि सर्वज्ञान की सम्भावना तभी है जब सब कुछ एक तत्त्व में समाहित हो। मुण्डक ब्रह्मज्ञान को "परा विद्या" और वेदाङ्गादि को "अपरा विद्या" कहता है। इसी में यह भी है:

"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति॥" (मुण्डक ३.२.९)

जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है [4]। यह अद्वैत की मोक्ष-मान्यता का मुखर रूप है, क्योंकि यहाँ "प्राप्ति" नहीं, "होना" है। दो पक्षियों वाला रूपक ("द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया", ३.१.१) अद्वैत और द्वैत दोनों व्याख्याओं का आधार रहा है। शांकर परम्परा में इसे जीव और ईश्वर की उपाधि-कृत भिन्नता के रूप में और द्वैत परम्परा में जीव-ब्रह्म के स्थायी भेद के रूप में पढ़ा गया है [4, 13]।

5.7 माण्डूक्य उपनिषद् और गौड़पाद कारिका

माण्डूक्य में केवल बारह वाक्य हैं, फिर भी शंकर-परम्परा उसे सम्पूर्ण वेदान्त का सार मानती है। उसकी घोषणा है:

"सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।" (माण्डूक्य २)

यह सब ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है, और यह आत्मा चार पादों वाला है [4]। चार पाद हैं: जाग्रत् (वैश्वानर), स्वप्न (तैजस), सुषुप्ति (प्राज्ञ) और चतुर्थ (तुरीय)। तुरीय का वर्णन अद्वैत का सबसे संक्षिप्त और सटीक लक्षण है:

"नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं... शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।" (माण्डूक्य ७)

जो न भीतर प्रज्ञा वाला है, न बाहर, वह शान्त, शिव और अद्वैत चतुर्थ अवस्था है। वही आत्मा है और वही जानने योग्य है [4]। पूरे उपनिषद्-साहित्य में सम्भवतः यहीं "अद्वैत" शब्द सर्वाधिक स्पष्टता से आया है।

माण्डूक्य की व्याख्या के रूप में गौड़पाद ने चार प्रकरणों वाली "माण्डूक्य-कारिका" (आगम, वैतथ्य, अद्वैत और अलातशान्ति) रची, जिसे भारतीय दर्शन में अद्वैत का सबसे पुराना उपलब्ध व्यवस्थित ग्रन्थ माना जाता है [4, 19]। गौड़पाद का "अजातिवाद" कहता है कि परमार्थतः न उत्पत्ति है, न लय:

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥" (माण्डूक्य-कारिका २.३२)

न निरोध है, न उत्पत्ति; न बद्ध है, न साधक; न मुमुक्षु है, न मुक्त। यही परमार्थ का स्वरूप है [4, 19]। और:

"प्रपञ्चो यदि विद्येत निर्वर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥" (कारिका १.१७)

यदि प्रपञ्च वास्तव में होता तो अवश्य निवृत्त होता। यह द्वैत माया-मात्र है, और परमार्थतः अद्वैत ही है [4, 19]। टी. एम. पी. महादेवन ने गौड़पाद का विस्तृत अध्ययन कर यह माना कि गौड़पाद के विचार उपनिषदों की ही परम्परा से उपजे हैं और बौद्ध दर्शन के साथ समानता होते हुए भी उनका आधार वैदिक है [20]। इसके विपरीत विधुशेखर भट्टाचार्य ने कारिका के बौद्ध विज्ञानवाद और माध्यमिक विचारों से सम्बन्ध पर बल दिया [19]। रिचर्ड किंग ने अपने विस्तृत अध्ययन में गौड़पाद की शब्दावली और तर्क-पद्धति का माहायान बौद्ध सन्दर्भ में विश्लेषण किया और दोनों के बीच वैचारिक निकटता को रेखांकित किया, यद्यपि उन्होंने गौड़पाद को वैदिक-वेदान्ती ही माना [21]।

5.8 तैत्तिरीय और ऐतरेय उपनिषद्

तैत्तिरीय का ब्रह्म-लक्षण अद्वैत में स्वरूप-लक्षण के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है:

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तैत्तिरीय २.१.१)

ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है [4]। शंकर के अनुसार ये तीनों पद ब्रह्म के विशेषण नहीं, बल्कि विशेष्य-भेद के निषेध के लिए लक्षण हैं [4]। इसी उपनिषद् की आनन्दमीमांसा और पञ्चकोश-विवेक (अन्नमय से आनन्दमय तक) शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द के स्तरों से आत्मा की अनुभूति का मार्ग दिखाते हैं, और मन-वाणी से अगोचर ब्रह्म का संकेत (यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, २.१.१) देते हैं [4]।

ऐतरेय उपनिषद् (ऋग्वेद) का महावाक्य है "प्रज्ञानं ब्रह्म" (३.३) अर्थात् प्रज्ञान ही ब्रह्म है [4]। इसमें सृष्टि का आधार आत्मा में ही बताया गया है ("आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्", १.१.१), जो छान्दोग्य के "सदेव" के समान अद्वैत-भूमिका है।

5.9 श्वेताश्वतर उपनिषद्

श्वेताश्वतर में ऐकेश्वरवादी और अद्वैत दोनों स्वर सुनाई देते हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (६.११) अद्वैत को उद्घासित करता है, जबकि "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (४.१०) माया-शब्द का दार्शनिक प्रयोग करता है [13]। माया को प्रकृति और महेश्वर को मायावी कहने से ही परवर्ती अद्वैत की माया-अवधारणा के बीज दिखते हैं। किन्तु इस उपनिषद् में सांख्य-योग और भक्ति के तत्त्व भी हैं, इसलिए इसका सम्पूर्ण अद्वैतीकरण कठिन है।

5.10 महावाक्यों का वितरण

अद्वैत-परम्परा में चार वेदों से चार महावाक्य लिए गए:

- ऋग्वेद (ऐतरेय): "प्रज्ञानं ब्रह्म"
- यजुर्वेद (बृहदारण्यक): "अहं ब्रह्मास्मि"
- सामवेद (छान्दोग्य): "तत्त्वमसि"
- अथर्ववेद (माण्डूक्य): "अयमात्मा ब्रह्म"

इस वितरण से परम्परा ने यह प्रदर्शित किया कि अद्वैत का सन्देश चारों वेदों के अन्तिम भाग में समान है [1, 5, 6]। यह परम्परा-निर्मित व्यवस्था है और मूलपाठ में "महावाक्य" संज्ञा नहीं मिलती। तथापि ये चारों वाक्य वस्तुतः अलग-अलग सन्दर्भों में अभेद का बोध कराते हैं: "प्रज्ञानं ब्रह्म" ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण, "तत्त्वमसि" उपदेश-वाक्य, "अहं ब्रह्मास्मि" अनुभव-वाक्य, और "अयमात्मा ब्रह्म" प्रत्यक्ष-सूचक वाक्य।

6. मूल अवधारणाओं का विश्लेषण

6.1 ब्रह्म

अद्वैत में ब्रह्म वह परम सत्ता है जो सत्, चित्, आनन्द और अनन्त है। उपनिषदों में ब्रह्म के दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं: सगुण (उपासना के लिए, सर्वज्ञ और सर्वेश्वर के रूप में) और निर्गुण (नेति-नेति, अशब्द, अस्पर्श, अरूप)। शंकर ने ब्रह्मसूत्र (३.२.११) "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" पर भाष्य करते हुए निर्णय दिया कि ब्रह्म का निश्चित स्वरूप निर्विशेष है, और सविशेष वर्णन उपासना या उपाधि की दृष्टि से है [7]। इस निर्णय से अद्वैत ने उपनिषदों के सभी परस्पर-भिन्न प्रतीत होने वाले कथनों को दो स्तरों (पर और अपर ब्रह्म) पर सुसंगत किया।

6.2 आत्मा और जीव

उपनिषदों में "आत्मा" का अर्थ शरीर, मन या बुद्धि तक सीमित नहीं है। यह साक्षी-चैतन्य है। बृहदारण्यक के "विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयात्" (२.४.१४) में आत्मा को ज्ञाता के रूप में विषय बनाने की असम्भवता कही गई है [5]। अद्वैत का सिद्धान्त यह है कि उपाधि (बुद्धि, अन्तःकरण) के कारण एक चैतन्य ही जीव-रूप में भासित होता है। शंकर के "विवेकचूडामणि" में आत्मा-अनात्मा के विवेक को मोक्ष-साधना का प्रारम्भिक बिन्दु कहा गया है [22]।

6.3 माया और अविद्या

माया के प्रश्न पर शोधकर्ताओं में सबसे अधिक मतभेद है। श्वेताश्वतर में माया प्रकृति के अर्थ में आई है [13]। शंकर ने ब्रह्मसूत्र के अध्यास-भाष्य में "अध्यास" को "एक वस्तु में अन्य वस्तु का आभास" कहकर अविद्या की सैद्धान्तिक व्याख्या रची [7]। रस्सी में सर्प, सीप में चाँदी और आकाश में नीलिमा जैसे दृष्टान्त इसी सिद्धान्त के स्पष्टीकरण हैं। शंकर की "उपदेशसाहस्री" के आलोचनात्मक अध्ययन में मायेदा ने शंकर के प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में इस ग्रन्थ की स्थिति और उसकी शिक्षण-पद्धति का विश्लेषण किया, जिससे शंकर की शिष्य-उपदेश-प्रविधि स्पष्ट होती है [23]।

माया-सम्बन्धी शोध का एक दिलचस्प पहलू यह है कि मार्क कोमन्स ने प्रारम्भिक अद्वैत की "पद्धति" का अध्ययन कर दिखाया कि अद्वैत में जगत् की "मिथ्या" संज्ञा का अर्थ शून्यता नहीं, बल्कि "अनिर्वचनीय" (न सत् न असत्) है, और इसका उपयोग शिक्षण-पद्धति (अध्यारोप-अपवाद) से जुड़ा है [24]। अनन्त रामबचन ने "शास्त्र की सीमाएँ" में तर्क दिया कि शंकर की दृष्टि में ब्रह्म-ज्ञान का प्रमाण शास्त्र (उपनिषद्) है, केवल व्यक्तिगत रहस्यानुभूति नहीं, और यह मान्यता नव-वेदान्त की अनुभव-प्रधान व्याख्या से भिन्न है [25]। एलियट ड्यूश ने अद्वैत का समकालीन दार्शनिक पुनर्गठन प्रस्तुत करते हुए माया को "व्यावहारिक सत्ता की सापेक्षता" के रूप में समझाया [26]।

इस प्रकार माया की व्याख्या के तीन स्तर बनते हैं: (१) उपनिषदों में प्रकृति या शक्ति के अर्थ में; (२) शंकर में अध्यास और अनिर्वचनीयता के रूप में; (३) आधुनिक दार्शनिकों में सापेक्ष सत्ता या दृष्टिकोण-भेद के रूप में।

6.4 जगत् की स्थिति

उपनिषदों में जगत् के सम्बन्ध में तीन प्रकार के कथन मिलते हैं: (क) जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तैत्तिरीय ३.१, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"); (ख) जगत् ब्रह्म ही है (छान्दोग्य ३.१४.१); (ग) नानात्व नहीं है (कठ २.१.११, बृहदारण्यक ४.४.१९)। शंकर ने इन्हें "व्यावहारिक" और "पारमार्थिक" स्तरों में विभाजित कर समझाया कि (क) और (ख) जगत् की व्यावहारिक सत्ता और (ग) पारमार्थिक अद्वैत को कहते हैं [7]। यह विभाजन मूलपाठ में अपने स्पष्ट पारिभाषिक रूप में नहीं है और भाष्य-परम्परा की देन है। इसी कारण अन्य वेदान्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

6.5 मोक्ष और जीवन्मुक्ति

अद्वैत में मोक्ष कोई नई अवस्था की प्राप्ति नहीं, बल्कि अज्ञान की निवृत्ति से स्वरूप का बोध है: "ब्रह्मैव भवति" (मुण्डक ३.२.९) [4]। शंकर की परम्परा में "जीवन्मुक्ति" (जीवित रहते मुक्ति) की अवधारणा प्रतिष्ठित हुई। अन्ना कीरा फोर्ट ने जीवन्मुक्ति की परम्परागत अद्वैत और नव-वेदान्त की व्याख्याओं की तुलना कर बताया कि नव-वेदान्त ने इसे अधिक सामाजिक और नैतिक सक्रियता से जोड़ा [27]। बाल गंगाधर तिलक ने "गीता-रहस्य" में ज्ञान और कर्म के सामंजस्य पर बल देकर ज्ञान-कर्म-समुच्चय की नई पड़ताल की, जिसे शंकर की संन्यास-प्रधान दृष्टि से भिन्न कहा गया [28]। यह विवाद उपनिषदों के ईश (१-२) जैसे मन्त्रों को भी छूता है, जिनमें कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की बात है।

7. पूर्व शोध-कार्यों की समीक्षा, परिणाम और विश्लेषण

इस खण्ड में प्रमुख शोध-कार्यों का उनके उद्देश्य, पद्धति और परिणाम की दृष्टि से पर्यालोचन है। समीक्षा में यह देखा गया कि किस शोध ने किस दृष्टिकोण से अद्वैत को स्पष्ट किया और उसकी सीमाएँ क्या रहीं।

(१) डॉयसन (१९०६): पॉल डॉयसन ने उपनिषदों को कान्ट और शोपेनहावर की दार्शनिक पृष्ठभूमि में पढ़ा और निष्कर्ष निकाला कि उपनिषदों का मूल तत्त्व आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य है, जो एक प्रकार का आदर्शवादी अद्वैत है [3]। *परिणाम*: अद्वैत को उपनिषदों की केन्द्रीय शिक्षा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। *आलोचनात्मक टिप्पणी*: यह व्याख्या पाश्चात्य आदर्शवाद के चश्मे से प्रभावित मानी गई, और उपनिषदों की बहुलता तथा उनके कर्म-उपासना-सम्बन्धी पक्ष को गौण करती है।

(२) दासगुप्त (१९२२): दासगुप्त ने भारतीय दर्शन के इतिहास में उपनिषदों की विविध चिन्तन-धाराओं को स्वीकार किया और शांकर व्याख्या को अनेक में से एक बताया [8]। *परिणाम*: उपनिषद् अनेक वैचारिक स्तरों का संकलन हैं, और अद्वैत उनमें एक सशक्त धारा है। *टिप्पणी*: यह दृष्टि अद्वैत की एकाधिकारवादी दावेदारी को सन्तुलित करती है।

(३) रानाडे (१९२६): रानाडे ने उपनिषदों को रहस्यानुभूति की धारा मानते हुए उनके भीतर विभिन्न स्तरों (सृष्टि-विज्ञान, मनोविज्ञान, ब्रह्मविद्या) को खोजा [10]। *परिणाम*: अद्वैत को अनुभूति के चरम शिखर के रूप में, किन्तु अकेली प्रवृत्ति के रूप में नहीं, स्थापित किया। *टिप्पणी*: इस अध्ययन ने उपनिषद्-दर्शन को "व्यवस्था" के बजाय "प्रवाह" मानने की दृष्टि दी।

(४) राधाकृष्णन् (१९२३, १९५३): राधाकृष्णन् ने उपनिषदों की प्रवृत्ति को आदर्शवादी अद्वैत के रूप में स्वीकार किया, पर माया की शांकर व्याख्या को अतिवादी होने से बचाते हुए जगत् को "सापेक्ष सत्य" कहा [2, 9]। *परिणाम*: अद्वैत की एक सन्तुलित, आधुनिक और विश्व-सम्बद्ध व्याख्या। *टिप्पणी*: यह शंकर-निष्ठ पाठकों को कुछ स्थानों पर परिवर्तनशील प्रतीत होती है।

(५) थिबो (१८९०-१९०४): जॉर्ज थिबो ने शांकर और रामानुज दोनों भाष्यों का अनुवाद किया और भूमिका में यह मत रखा कि शंकर की व्याख्या उपनिषदों के अधिक निकट है, जबकि रामानुज की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के पाठ से अधिक मेल खाती है [32, 33]। *परिणाम*: भाष्य-भेद का कारण केवल दार्शनिक नहीं, पाठ-स्रोत का भेद भी है। *टिप्पणी*: यह दृष्टि उपनिषद्-सूत्र-भाष्य के त्रिकोणात्मक सम्बन्ध को समझने में उपयोगी है।

(६) महादेवन (१९५२) और भट्टाचार्य (१९४३): इन दोनों ने गौड़पाद की कारिका का अध्ययन किया। महादेवन ने उसे उपनिषद्-परम्परा का स्वाभाविक विकास माना [20]। भट्टाचार्य ने बौद्ध प्रभाव को रेखांकित किया [19]। *परिणाम*: अद्वैत की उत्पत्ति पर उपनिषद्-आन्तरिक बनाम बौद्ध-प्रभावित दो मत सामने आए। *टिप्पणी*: किंग का बाद का अध्ययन इस बहस को अधिक सूक्ष्म बनाता है, क्योंकि वह प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी गौड़पाद के वैदिक आग्रह को अलग रखता है [21]।

(७) नाकामुरा (१९८३): हाजिमे नाकामुरा ने शंकर-पूर्व वेदान्त का इतिहास लिखकर दिखाया कि शंकर से पहले भी वेदान्त-परम्परा की विविध धाराएँ विद्यमान थीं [29]। *परिणाम*: शंकर को अद्वैत का "आदि प्रवर्तक" कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अपूर्ण है, क्योंकि वे एक विकसित परम्परा के प्रौढ़ संश्लेषक थे। *टिप्पणी*: यह निष्कर्ष उपनिषद्-अद्वैत और शांकर-अद्वैत को एक सीधी रेखा में नहीं रखता।

(८) पॉटर (सं., १९८९): *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन फ़िलॉसफ़ीज* के तृतीय खण्ड ने शंकर तक और उनके शिष्यों तक अद्वैत के विकास का ग्रन्थ-सूचीय और सैद्धान्तिक सर्वेक्षण दिया [30]। *परिणाम*: यह अद्वैत के साहित्यिक स्रोतों का व्यापक मानचित्र प्रस्तुत करता है।

(९) हालफ़ास (१९८८): विल्हेल्म हालफ़ास ने भारत और यूरोप के वैचारिक मुठभेड़ का अध्ययन कर दिखाया कि आधुनिक काल में अद्वैत को "सर्वसमावेशी" धर्म-दर्शन के रूप में गढ़ा गया और यह पश्चिम के प्रति भारतीय प्रत्युत्तर का भी अंग था [31]। *परिणाम*: आधुनिक अद्वैत-छवि में ऐतिहासिक और वैचारिक निर्माण के तत्त्व हैं। *टिप्पणी*: यह शोध अद्वैत की प्रस्तुति में छिपे राजनीतिक और सांस्कृतिक पहलुओं की ओर ध्यान दिलाता है।

(१०) रामबचन (१९९१) और कोमन्स (२०००): दोनों ने शंकर की पद्धति का अध्ययन किया। रामबचन ने शास्त्र-प्रामाण्य पर बल दिया [25], और कोमन्स ने शिक्षण-पद्धति और प्रारम्भिक अद्वैत के क्रम का विवेचन किया [24]। परिणाम: अद्वैत केवल रहस्यानुभव नहीं, शब्द-प्रमाण-आधारित ज्ञान-विधि है।

(११) फोर्ट (१९९८): जीवन्मुक्ति के सन्दर्भ में परम्परागत और नव-वेदान्तिक दृष्टियों के अन्तर को रेखांकित किया [27]। परिणाम: अद्वैत की सामाजिक और नैतिक व्याख्याओं में ऐतिहासिक परिवर्तन दिखते हैं।

(१२) हिन्दी दर्शन-ग्रन्थ: बलदेव उपाध्याय ने भारतीय दर्शन में उपनिषद्-दर्शन को वैदिक ज्ञान-परम्परा के चरम रूप में देखा और अद्वैत को उसकी सर्वाधिक व्यवस्थित परिणति माना [1]। रामधारी सिंह दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय में उपनिषदों के उदय को यज्ञ-प्रधान संस्कृति के प्रति बौद्धिक विद्रोह और ज्ञान-आन्दोलन के रूप में देखा, जिसमें क्षत्रिय राजाओं की भूमिका भी थी [36]। इन दोनों हिन्दी ग्रन्थों की विशेषता यह है कि वे उपनिषदों को केवल दार्शनिक नहीं, सांस्कृतिक घटना के रूप में भी देखते हैं।

समीक्षा से प्राप्त संश्लेषित निष्कर्ष

पूर्व शोधों के सामूहिक विश्लेषण से चार निष्कर्ष उभरते हैं:

१. सभी प्रमुख विद्वान इस पर सहमत हैं कि उपनिषदों में अभेद-दर्शन का पाठ-आधार है, चाहे उसे "एकमात्र" माना जाए या "प्रमुख"।
२. मतभेद माया, जगत्-मिथ्यात्व और व्याख्या-पद्धति पर है, मूल आत्म-ब्रह्म-ऐक्य पर नहीं।
३. अद्वैत के ऐतिहासिक विकास में शंकर-पूर्व चरण (गौड़पाद और अन्य) महत्वपूर्ण हैं।
४. आधुनिक काल में अद्वैत की प्रस्तुति ने भी उसके स्वरूप को प्रभावित किया।

8. विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण

8.1 शंकर दृष्टि

शंकर का दृष्टिकोण उपनिषद्-वाक्यों की एकवाक्यता (समन्वय) स्थापित करने वाला है। ब्रह्मसूत्र "तत्तु समन्वयात्" (१.१.४) के अनुसार सभी उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में है [7]। इस दृष्टि की शक्ति यह है कि यह विभिन्न प्रकार के कथनों को सुसंगत करती है। उसकी सीमा यह है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद मूलपाठ में स्पष्ट पारिभाषिक रूप में नहीं है।

8.2 रामानुज का विशिष्टाद्वैत

रामानुज ने उपनिषदों के "तत्त्वमसि" जैसे वाक्यों को अभेद नहीं, बल्कि सामानाधिकरण्य के आधार पर विशिष्ट (गुणयुक्त) ब्रह्म की एकता के रूप में पढ़ा। उनके अनुसार जीव और जगत् ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म शरीरी है [33]। यह दृष्टि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" जैसे कथनों को स्वीकार करती है, पर निर्गुणत्व को नहीं मानती। इसकी शक्ति भक्ति और नैतिक जीवन के साथ अधिक सहजता है, और सीमा यह कि "नेह नानास्ति किंचन" जैसे कथनों में नानात्व के निषेध को सापेक्ष अर्थ देना पड़ता है।

8.3 मध्व का द्वैत

मध्व के अनुसार "तत्त्वमसि" को "अतत्त्वमसि" (तू वह नहीं है) रूप में पढ़ा जाता है और पाँच प्रकार के भेद (जीव-ईश्वर, जीव-जीव, जीव-जड़, ईश्वर-जड़, जड़-जड़) नित्य हैं। बी. एन. के. शर्मा ने मध्व के दर्शन का विस्तार से अध्ययन कर उसकी तार्किक संगति और उपनिषद्-व्याख्या-पद्धति का विश्लेषण किया [34]। यह दृष्टि "द्रा सुपर्णा" जैसे मन्त्रों को स्थायी भेद के प्रमाण के रूप में लेती है [4]।

8.4 श्री अरविन्द की समन्वयी दृष्टि

श्री अरविन्द ने "द लाइफ डिवाइन" में तर्क दिया कि ब्रह्म की एकता जगत् की वास्तविकता का निषेध नहीं करती। उनके अनुसार जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है और मायावाद एकांगी है [35]। यह दृष्टि ईश उपनिषद् के "विद्या और अविद्या" के समन्वय (मन्त्र ९-११) से सहज मेल खाती है [4]।

8.5 बौद्ध दृष्टि से सम्बन्ध

बुद्ध के समय उपनिषदीय आत्मवाद उपलब्ध चिन्तन-परिवेश का अंग था। गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और विकास पर हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में अध्ययन कर दिखाया कि बुद्ध की शिक्षा को तत्कालीन उपनिषदीय और श्रमण परम्पराओं के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है, तथा अनात्मवाद उपनिषदीय आत्मवाद के प्रति एक चुनौती-पूर्ण प्रतिक्रिया थी [40]। टी. आर. वी. मूर्ति ने माध्यमिक दर्शन का अध्ययन कर बताया कि शून्यवाद और वेदान्त दोनों निरपेक्षवादी हैं, परन्तु माध्यमिक सभी दृष्टियों का प्रत्याख्यान करते हैं, जबकि वेदान्त आत्मा को अन्तिम आधार मानता है [41]। इससे स्पष्ट होता है कि "प्रच्छन्न बौद्ध" कहे जाने वाले आक्षेप और "बौद्ध का वैदिकीकरण" दोनों ही एकांगी हैं। वस्तुतः दोनों परम्पराओं में परस्पर संवाद और विनिमय हुआ।

8.6 सामाजिक-ऐतिहासिक और मार्क्सवादी दृष्टि

राहुल सांकृत्यायन ने *दर्शन-दिग्दर्शन* में भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक-भौतिकवादी विवेचन किया और वेदान्त को आदर्शवादी चिन्तन कहकर उसकी सामाजिक भूमिका पर प्रश्न उठाए [37]। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने *लोकायत* में भारतीय भौतिकवादी परम्परा की खोज कर उपनिषदों में भी भौतिकवादी और आदर्शवादी धाराओं के संघर्ष को रेखांकित किया [38]। इन दृष्टियों का महत्त्व यह है कि वे अद्वैत को अमूर्त तत्त्वमीमांसा के साथ-साथ सामाजिक विमर्श में भी रखती हैं। इनकी सीमा यह है कि ये आदर्शवाद को समाज से पलायन के रूप में देखने की प्रवृत्ति के कारण उपनिषदों की अनुभवात्मक और नैतिक गहराई को पूरा स्थान नहीं दे पातीं।

8.7 आर्यसमाजी आलोचना

दयानन्द सरस्वती ने *सत्यार्थ प्रकाश* में अद्वैत के मायावाद की आलोचना की और ईश्वर, जीव और प्रकृति की त्रैत-व्यवस्था को वैदिक सिद्धान्त कहा [39]। यह दृष्टि वेदों की पुनर्व्याख्या का प्रयास थी। इसका पाठगत आधार सीमित माना जाता है, क्योंकि बृहदारण्यक और छान्दोग्य के अभेद-वाक्य इससे सीधे संगत नहीं बैठते, फिर भी यह इस बात का साक्ष्य है कि आधुनिक काल में अद्वैत पर स्वदेशी आपत्तियाँ भी उठीं।

8.8 दृष्टिकोणों की तुलनात्मक सार-समीक्षा

तालिका के बिना गद्य में संक्षेप करें तो: शंकर उपनिषद् की एकवाक्यता में अद्वैत को केन्द्र मानते हैं, रामानुज भक्ति और गुण-वैशिष्ट्य को, मध्व भेद की नित्यता को, अरविन्द जगत् की सार्थकता को, बौद्ध परम्परा अनात्म-दृष्टि को, मार्क्सवादी दृष्टि सामाजिक यथार्थ

को, और दयानन्द वैदिक संहिताओं की त्रैतवादी व्याख्या को। पाठ-आधार की दृष्टि से सबसे अधिक वाक्य-समर्थन अद्वैत को मिलता है (जैसे बृहदारण्यक २.४.१४, ४.४.१९; छान्दोग्य ६.२.१, ६.८.७; कठ २.१.११; मुण्डक ३.२.९; माण्डूक्य ७)। पर भेद-सूचक अंश (जैसे मुण्डक ३.१.१ के दो पक्षी और श्वेताश्वतर के ईश्वर-वर्णन) भी उपेक्षणीय नहीं हैं।

9. तुलनात्मक विश्लेषण

9.1 पारमेनाइडीज़ और अद्वैत

प्राचीन यूनानी दार्शनिक पारमेनाइडीज़ ने माना कि "जो है वह है, और जो नहीं है वह नहीं है", और परिवर्तन तथा बहुत्व को भ्रम कहा। किर्क और रेवन के अध्ययन में उनके इस सत् के एकत्व और अपरिवर्तनीयता का विस्तार से वर्णन है [42]। यह छान्दोग्य के "सदेव... एकमेवाद्वितीयम्" [6] से आश्चर्यजनक समानता रखता है। अन्तर यह है कि पारमेनाइडीज़ तर्क-प्रधान हैं और उपनिषद् अनुभव और साधना को अन्तर्निहित करते हैं, तथा उनके यहाँ "आत्मा" की केन्द्रीयता स्पष्ट है।

9.2 प्लोटिनस

प्लोटिनस के "एनिड्स" में परम "एक" (The One) का वर्णन मिलता है, जो अनिर्वचनीय और सभी अस्तित्व का उद्गम है, और जिससे आत्मा का पुनर्मिलन अन्तिम लक्ष्य है [43]। यह ब्रह्म-आत्मा-ऐक्य से तुलनीय है। भेद यह है कि प्लोटिनस उद्भव (emanation) की श्रेणीबद्ध व्यवस्था देते हैं, जबकि शंकर का अद्वैत अध्यास और विवर्त पर टिका है।

9.3 स्पिनोज़ा

स्पिनोज़ा ने अपनी *एथिका* में एक ही "द्रव्य" (ईश्वर या प्रकृति) माना, जिसके गुण और विकार ही सब वस्तुएँ हैं [44]। यह सर्वात्मवाद की दिशा में उपनिषदों के "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" से निकट है [6]। मुख्य अन्तर यह है कि स्पिनोज़ा का द्रव्य विस्तार और चिन्तन दोनों गुणों से युक्त है और उसमें मोक्ष का साधनात्मक ज्ञान-मार्ग वैसा नहीं है जैसा अद्वैत में। इसके अतिरिक्त अद्वैत का ब्रह्म निर्गुण-निर्विशेष है, जबकि स्पिनोज़ा का द्रव्य अनन्त गुणों वाला है।

9.4 शोपेनहावर

शोपेनहावर ने *परेर्गा एण्ड पैरालिपोमेना* में उपनिषदों के अध्ययन से प्राप्त गहरे प्रभाव का उल्लेख किया और उन्हें अपने जीवन का सान्त्वना-स्रोत बताया [45]। उनके दर्शन का "माया का परदा" (Schleier der Maya) और व्यक्तित्व-भ्रान्ति (principium individuationis) की धारणा उपनिषद्-वेदान्त से प्रभावित मानी जाती है। पर शोपेनहावर का मूल तत्त्व "इच्छा" (Will) है, जो अन्ध और दुःखमय है, जबकि अद्वैत का ब्रह्म सच्चिदानन्द है। इसलिए साम्य ऊपरी और भेद मूलभूत है।

9.5 रूडोल्फ ओटो और एकहार्ट

रूडोल्फ ओटो ने *Mysticism East and West* में शंकर और मीस्टर एकहार्ट के रहस्यवाद की तुलना की [46]। उन्होंने दोनों में आत्मा और ईश्वर/ब्रह्म की एकता और उसके अनिर्वचनीय स्वरूप के साम्य को दिखाया। किन्तु ओटो के अनुसार भेद भी हैं: एकहार्ट का मार्ग ईश्वर-कृपा और ईसाई ईश्वरवाद के भीतर है, जबकि शंकर का ज्ञान-आधारित अद्वैत ईश्वर के लिए भी माया-सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। यह तुलना दिखाती है कि अद्वैत को "रहस्यवाद" कहना आंशिक रूप से सही है, पर शंकर की तर्क-प्रधान पद्धति उसे विशुद्ध रहस्यवाद से अलग करती है।

9.6 सांख्य से तुलना

सांख्य पुरुष-प्रकृति के द्वैत पर आधारित है और अनेक पुरुषों को मानता है, जबकि अद्वैत एक ही चैतन्य को स्वीकार करता है [1, 15]। शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२.२) में सांख्य-प्रधानकारणवाद का खण्डन किया [7]। इसके साथ ही उपनिषदों के कुछ अंश (कठ, श्वेताश्वतर) में सांख्य-सदृश शब्दावली मिलती है, जो बताती है कि उपनिषद् काल में सांख्य-योग और वेदान्त परस्पर-प्रवाही धाराएँ थीं।

9.7 तुलनात्मक निष्कर्ष

तुलना से तीन बातें निकलती हैं। पहली, "एक सत्ता" की खोज अनेक परम्पराओं में स्वतन्त्र रूप से हुई, जो मानव-चिन्तन की सार्वभौम प्रवृत्ति का संकेत है। दूसरी, अद्वैत की विशिष्टता उसके अनुभवात्मक ज्ञानमार्ग (श्रवण-मनन-निदिध्यासन) और आत्मा की केन्द्रीयता में है, जो पश्चिम की अधिकांश एकत्ववादी परम्पराओं में उस रूप में नहीं मिलती। तीसरी, तुलना करते समय शब्द-साम्य को दार्शनिक साम्य नहीं मान लेना चाहिए।

10. विवेचन (Discussion)

10.1 मूलपाठ और भाष्य के बीच सम्बन्ध

इस अध्ययन का प्रमुख निष्कर्ष यह है कि शंकर का अद्वैत उपनिषदों से सर्वथा विच्छिन्न नहीं, पर उसकी पारिभाषिक संरचना (अध्यास, अनिर्वचनीयता, व्यावहारिक-पारमार्थिक सत्ता, अविद्या) परवर्ती और भाष्य-निर्मित है। उपनिषद् जहाँ "द्वैतमिव", "नानेव" जैसे संकेत देते हैं, वहाँ शंकर उन्हें सैद्धान्तिक रूप देते हैं [5, 7]। इस प्रक्रिया में कुछ पाठों का महत्त्व बढ़ जाता है और कुछ का घट जाता है। यह दृष्टि नाकामुरा के इस निष्कर्ष से भी संगत है कि शंकर पहले से चली आ रही परम्परा के संश्लेषक थे [29]।

10.2 अनुभव बनाम शास्त्र

आधुनिक काल में विवेकानन्द और राधाकृष्णन् जैसे विचारकों ने अद्वैत को अनुभव-केन्द्रित रूप में प्रस्तुत किया, जबकि रामबचन ने मूलतः शास्त्र-प्रमाण-आधारित शांकर पद्धति की ओर ध्यान दिलाया [2, 25]। हालफ़ास ने भी दिखाया कि इस अनुभव-प्रधान झुकाव में आधुनिक-पश्चिमी संवाद की भूमिका है [31]। इसलिए उपनिषदों में अद्वैत का अध्ययन करते समय यह भेद ध्यान रखना चाहिए। उपनिषद् "अनुभव" का भी उल्लेख करते हैं (अहं ब्रह्मास्मि) और "उपदेश" का भी (तत्त्वमसि), और दोनों साथ-साथ चलते हैं।

10.3 माया की समस्या

उपनिषदों में माया का सुनिश्चित दार्शनिक अर्थ तो श्वेताश्वतर में मिलता है [13], किन्तु "जगत् मिथ्या" जैसा कथन शब्दशः किसी उपनिषद् में नहीं है। प्रसिद्ध पंक्ति "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" शंकर के नाम से जुड़ी परम्परा में प्रचलित है और "ब्रह्मज्ञानावलीमाला" जैसे परवर्ती ग्रन्थ से जोड़ी जाती है। यह अद्वैत का सारगर्भित सूत्र तो है, पर इसे मूल उपनिषद् का वाक्य नहीं कहा जा सकता [1, 7]। कोमन्स का "अनिर्वचनीय" विश्लेषण [24] और ड्यूश की सापेक्ष-सत्ता की व्याख्या [26] इस पंक्ति के सरल पाठ ("संसार झूठ है") को सुधारती हैं।

10.4 नैतिक और सामाजिक निहितार्थ

अद्वैत का "एकत्वानुदर्शन" (ईश ७) नैतिक दृष्टि से सर्वभूत-समत्व का आधार बन सकता है [4]। किन्तु ऐतिहासिक रूप से यह सामाजिक विषमता के विरुद्ध प्रभावी सिद्धान्त बना या नहीं, यह विवादास्पद रहा है। मार्क्सवादी आलोचना इसे आदर्शवादी पलायन कहती है [37, 38]; नव-वेदान्तिक प्रवृत्ति इसे सेवा और कर्म से जोड़ती है [27, 28]। इसलिए अद्वैत के नैतिक फलितार्थ का मूल्यांकन उसके सैद्धान्तिक निहितार्थ और उसके ऐतिहासिक प्रयोग, दोनों के भेद को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

10.5 शोध-प्रश्नों के उत्तर

- (क) उपनिषदों में अद्वैत का स्पष्ट पाठगत आधार है, विशेषतः बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, कठ, मुण्डक और माण्डूक्य में।
(ख) "नेह नानास्ति किंचन" और सृष्टि-वर्णन का सामंजस्य शांकर परम्परा द्वारा दो स्तरों (परमार्थ और व्यवहार) के भेद से किया गया, जो मूलपाठ का संकेतित पर पूर्णतः पारिभाषिक रूप नहीं है।
(ग) शांकर, रामानुज और मध्व की मूल भिन्नता जीव-जगत्-ब्रह्म के सम्बन्ध और निर्गुणत्व के स्थान पर है।
(घ) आधुनिक शोध अद्वैत की उपनिषद्-आधारता को स्वीकार करते हैं, पर उसके एकाधिकार और उसकी आधुनिक छवि के निर्माण पर आलोचनात्मक प्रश्न भी उठाते हैं।

11. शोध की सीमाएँ और भावी शोध-दिशाएँ

यह अध्ययन प्रकाशित पाठ और द्वितीयक साहित्य पर आधारित है। पाण्डुलिपियों के पाठ-भेद का तुलनात्मक परीक्षण, भाषा-वैज्ञानिक काल-निर्धारण का स्वतन्त्र विश्लेषण और प्रकाशन-वर्ष सम्बन्धी सीमा (२०२३ से पूर्व) के कारण नवीनतम शोध का समावेश इसकी सीमाएँ हैं। भावी शोध निम्न दिशाओं में हो सकता है: (क) परवर्ती अद्वैताचार्यों (वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्मन्, सुरेश्वर) और उपनिषद्-पाठ का तुलनात्मक अध्ययन; (ख) उपनिषदों में भेद और अभेद-परक वाक्यों की पाठ-सांख्यिकीय समीक्षा; (ग) आधुनिक भारतीय भाषाओं में अद्वैत-चिन्तन का प्रसार; (घ) अद्वैत और आधुनिक चेतना-विज्ञान का दार्शनिक संवाद।

12. निष्कर्ष

उपनिषदों में अद्वैत दर्शन का अध्ययन यह दर्शाता है कि आत्मा-ब्रह्म की एकता भारतीय चिन्तन की सबसे प्रभावशाली स्थापनाओं में से एक है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" [6], "अहं ब्रह्मास्मि" [5], "नेह नानास्ति किंचन" [4, 5] और "शान्तं शिवमद्वैतम्" [4] जैसे वाक्य इसके पाठ-आधार हैं। साथ ही, उपनिषदों की बहुस्तरीयता, श्वेताश्वतर जैसे ग्रन्थों के ईश्वरवादी स्वर और मुण्डक के द्वा-सुपर्णा जैसे रूपकों की द्वैत-अद्वैत दोनों व्याख्याओं की सम्भावना [4, 13] यह दर्शाती है कि अद्वैत को "अन्तिम और एकमात्र" मानना पाठ के साथ पूर्ण न्याय नहीं है।

शंकर की देन यह है कि उन्होंने उपनिषद्-वाक्यों को एक सुसंगत तार्किक संरचना में बाँधा [7], और गौड़पाद ने उसके बीज-रूप को मजबूत आधार दिया [4, 19–21]। पूर्व शोध-कार्यों की समीक्षा से पता चलता है कि विद्वानों में अभेद के मूल विचार पर व्यापक सहमति है, जबकि माया, जगत् की सत्ता और भाष्य की ऐतिहासिकता पर सूक्ष्म मतभेद हैं [3, 8–10, 29, 31]। तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अद्वैत की विशिष्टता उसके अनुभवात्मक ज्ञान-मार्ग, आत्मा की केन्द्रीयता और निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा में है [42–46]।

अन्ततः, उपनिषदों में अद्वैत को एक सशक्त, पाठ-सम्मत और दार्शनिक रूप से समृद्ध धारा के रूप में स्वीकार करना उचित है। उसे उपनिषद्-साहित्य की समग्र विविधता का एकमात्र प्रतिनिधि मानना पाठ-निष्ठा की दृष्टि से अपूर्ण होगा। यही सन्तुलित निष्कर्ष इस विश्लेषणात्मक अध्ययन की केन्द्रीय उपलब्धि है।

सन्दर्भ (References)

1. Upādhyāya B. *Bhāratīya Darśana. Vārāṇasī: Śārādā Mandira; 1957.*
2. Radhakrishnan S. *The Principal Upanishads.* London: George Allen & Unwin; 1953.
3. Deussen P. *The Philosophy of the Upanishads.* Geden AS, translator. Edinburgh: T&T Clark; 1906.
4. Śaṅkarācārya. *Īśādi Nau Upaniṣad (Śaṅkarabhāṣya, Hindī anuvāda sahita).* Gorakhpur: Gītā Press; 2006.
5. Śaṅkarācārya. *Bṛhadāranyakopaniṣad (Śaṅkarabhāṣya, Hindī anuvāda sahita).* Gorakhpur: Gītā Press; 2005.
6. Śaṅkarācārya. *Chāndogyopaniṣad (Śaṅkarabhāṣya, Hindī anuvāda sahita).* Gorakhpur: Gītā Press; 2005.
7. Śaṅkarācārya. *Brahmasūtra Śaṅkarabhāṣya (Hindī vyākhyā sahita).* Gorakhpur: Gītā Press; 2004.
8. Dasgupta S. *A History of Indian Philosophy. Vol 1.* Cambridge: Cambridge University Press; 1922.
9. Radhakrishnan S. *Indian Philosophy. Vol 1.* London: George Allen & Unwin; 1923.
10. Ranade RD. *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.* Poona: Oriental Book Agency; 1926.
11. Olivelle P. *The Early Upaniṣads: Annotated Text and Translation.* New York: Oxford University Press; 1998.
12. Hume RE. *The Thirteen Principal Upanishads. 2nd ed.* Oxford: Oxford University Press; 1931.
13. Max Müller F, translator. *The Upanishads. Part 1. Sacred Books of the East, vol 1.* Oxford: Clarendon Press; 1879.
14. Hiriyan M. *Outlines of Indian Philosophy.* London: George Allen & Unwin; 1932.
15. Hiriyan M. *The Essentials of Indian Philosophy.* London: George Allen & Unwin; 1949.
16. Sharma C. *A Critical Survey of Indian Philosophy.* London: Rider & Co; 1960.

17. Belvalkar SK, Ranade RD. *History of Indian Philosophy. Vol 2: The Creative Period.* Poona: Bilvakuñja Publishing House; 1927.
18. Gambhirananda S, translator. *Eight Upanishads with the Commentary of Śaṅkarācārya.* Calcutta: Advaita Ashrama; 1957.
19. Bhattacharya V. *The Āgamaśāstra of Gauḍapāda.* Calcutta: University of Calcutta; 1943.
20. Mahadevan TMP. *Gauḍapāda: A Study in Early Advaita.* Madras: University of Madras; 1952.
21. King R. *Early Advaita Vedānta and Buddhism: The Mahāyāna Context of the Gauḍapādīya-kārikā.* Albany: State University of New York Press; 1995.
22. Śaṅkarācārya. *Vivekacūḍāmaṇi (Hindī anuvāda sahita).* Gorakhpur: Gītā Press; 2003.
23. Mayeda S, translator. *A Thousand Teachings: The Upadeśasāhasrī of Śaṅkara.* Tokyo: University of Tokyo Press; 1979.
24. Comans M. *The Method of Early Advaita Vedānta: A Study of Gauḍapāda, Śaṅkara, Sureśvara and Padmapāda.* Delhi: Motilal Banarsidass; 2000.
25. Rambachan A. *The Limits of Scripture: Vivekananda's Reinterpretation of the Authority of the Vedas.* Honolulu: University of Hawaii Press; 1991.
26. Deutsch E. *Advaita Vedanta: A Philosophical Reconstruction.* Honolulu: East-West Center Press; 1969.
27. Fort AO. *Jīvanmukti in Transformation: Embodied Liberation in Advaita and Neo-Vedanta.* Albany: State University of New York Press; 1998.
28. Tilak BG. *Gītā-Rahasya.* Pune: Tilak Brothers; 1915.
29. Nakamura H. *A History of Early Vedānta Philosophy. Part 1.* Delhi: Motilal Banarsidass; 1983.
30. Potter KH, editor. *Encyclopedia of Indian Philosophies. Vol 3: Advaita Vedānta up to Śaṅkara and His Pupils.* Delhi: Motilal Banarsidass; 1981.
31. Halbfass W. *India and Europe: An Essay in Understanding.* Albany: State University of New York Press; 1988.
32. Thibaut G, translator. *The Vedānta-Sūtras with the Commentary by Śaṅkarācārya. Part 1. Sacred Books of the East, vol 34.* Oxford: Clarendon Press; 1890.

33. Thibaut G, translator. *The Vedānta-Sūtras with the Commentary by Rāmānuja*. Sacred Books of the East, vol 48. Oxford: Clarendon Press; 1904.
34. Sharma BNK. *Philosophy of Śrī Madhvācārya*. Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan; 1962.
35. Aurobindo S. *The Life Divine*. Calcutta: Arya Publishing House; 1939.
36. Dinkar RS. *Sanskṛti ke Cār Adhyāya*. Patna: Udayācala; 1956.
37. Sāṅkṛtyāyana R. *Darśana-Digdarśana*. Allahabad: Kitāb Mahal; 1942.
38. Chattopadhyaya D. *Lokāyata: A Study in Ancient Indian Materialism*. New Delhi: People's Publishing House; 1959.
39. Dayānanda Sarasvatī. *Satyārtha Prakāśa*. Banaras; 1875.
40. Pande GC. *Studies in the Origins of Buddhism*. Allahabad: University of Allahabad; 1957.
41. Murti TRV. *The Central Philosophy of Buddhism: A Study of the Mādhyamika System*. London: George Allen & Unwin; 1955.
42. Kirk GS, Raven JE. *The Presocratic Philosophers*. Cambridge: Cambridge University Press; 1957.
43. MacKenna S, translator. *Plotinus: The Enneads*. London: Medici Society; 1917–1930.
44. Spinoza B. *Ethica ordine geometrico demonstrata*. In: *Opera Posthuma*. Amsterdam; 1677.
45. Schopenhauer A. *Parerga und Paralipomena*. Berlin: A. W. Hayn; 1851.
46. Otto R. *Mysticism East and West: A Comparative Analysis of the Nature of Mysticism*. Bracey BL, Payne RC, translators. New York: Macmillan; 1932.